अध्याय 1

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना

(Establishment of British Rule in India)

कर्नाटिक युद्ध

'फ्रेंच ईस्ट इंडिया कंपनी' (Compagnie des indes - कैम्पेनी दिस इन्डीस) फ्रांस की पहली ऐसी कंपनी थी, जो भारत से स्थायी व्यापारिक संबंध बनाने में सफल हुई। 1664 ई. में सम्राट लुइस XIV के एक मंत्री कालबर्ट की योजनानुसार यह व्यापारिक संबंध बने और 1668 ई. में फ्रांसीसी सेवा में कार्यरत कॉरोन ने सूरत में पहली कंपनी खोली। 1669 में मसूलीपट्टिनम में दूसरी कंपनी स्थापित हुई और 1674 ई. में फ्रांकोइस मोर्टिन ने पांडिचेरी में एक और कंपनी खोली और पांडिचेरी ही भारत में फ्रांसीसियों की राजधानी बनी। बंगाल में प्रथम फ्रांसीसी कंपनी की स्थापना हुगली नदी के किनारे चंद्रनगर नामक स्थान पर 1690-92 में हुई। 1725 ई. में फ्रांसीसियों ने माहे (मालाबार) और 1739 ई. में कारीकल (कोरोमंडल) को भी अपने अधिकार में ले लिया।

सम्राट लुई XIV ने कंपनी को 30 लाख लिवरे (फ्रांसीसी मुद्रा) का ब्याजरहित ऋण उपलब्ध कराया था। इस तरह फ्रांसीसी कंपनी का लगभग 25 वर्षों तक एकाधिकार कायम रहा और केप ऑफ गुड होप और दक्षिणी सागर से भारत के बीच निर्बाध व्यापार चलता रहा। फ्रांसीसियों ने औरंगजेब से एक फ़रमान प्राप्त कर लिया था, जिससे उन्हें गुजरात के तट पर व्यापार की अनुमति मिल गयी थी।

इंगलिश ईस्ट इंडिया कंपनी और फ्रेंच ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच कर्नाटिक युद्ध 1746 से 1763 तक लड़ा गया। अंग्रेज और फ्रांसीसी यूरोप में भी पुराने प्रतिद्वंदी थे और एक-दूसरे को जहां भी और जिस क्षेत्र में भी देखते परास्त करने का प्रयत्न किया करते थे। भारतीय भूमि पर इन दोनों के बीच होने वाली यह लड़ाई इस दृष्टि से विशेष थी, क्योंकि दोनों ही भारतीय व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते थे, जबकि मुग़ल सम्राट, दक्कन के सूबेदार और कर्नाटिक के नवाब मूकदर्शक बने हुए थे।

प्रथम कर्नाटिक युद्ध (1746-48)

प्रथम कर्नाटिक युद्ध प्रत्यक्ष रूप से यूरोपीय घटनाओं से जुड़ा हुआ है। अंग्रेज और फ्रांसीसी दोनों ही आस्ट्रिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य से लड़ते (1746-48) रहते थे। इसलिए मार्च,

1746 ई. में जब लड़ाई शुरू हुई, तो भारत में भी इन दोनों कंपनियों ने इसकी तैयारी शुरू कर दी। डूप्ले (Dupleix), जो भारत में फ्रांस का 1742 तक गवर्नर जनरल था, ने पहली बार राजनीतिक प्रभाव की आवश्यकताओं को समझा। परंतु उसके समक्ष अनेक कठिनाइयां थीं। 'फ्रांसीसी कंपनी' एक सरकारी कंपनी थी, जो अनेक कठिनाइयों से गुजर रही थी। यद्यपि गत कुछ वर्षों से उसके व्यापार क्षेत्र में कुछ बढ़ोतरी हुई थी लेकिन फिर भी उसकी आय से उसका खर्च अधिक था। जाहिर है, वह भारी कर्जों में डूबी हुई थी। लेकिन मामला इतना ही नहीं था। डूप्ले (Dupleix) और लाबुर्दोनाय (La Bourdonnais) के बीच वर्चस्व की लड़ाई ने स्थिति को और भी ख़राब कर दिया था। जुलाई, 1746 ई. में लॉ बुर्दोनाय 10 बख्तरबंद गाड़ियों, 406 तोपों, 2350 गोरे सैनिकों और 70 काले सैनिकों के साथ पांडिचेरी पहुंचा था। वह चाहता था कि उसे पूरी आजादी मिले, जबकि गवर्नर जनरल डूप्ले अपने आपको सर्वोच्च शक्ति मानता था।

21 सितंबर, 1746 ई. को लॉ बुर्दोनाय के नेतृत्व में फ्रांसीसी टुकड़ी ने मद्रास पर कब्जा कर लिया। मद्रास 17वीं शताब्दी के मध्य से ही अंग्रेजों के प्रमुख व्यापारिक केंद्रों में से एक था। कर्नाटिक के नवाब अनवारुद्दीन ने मद्रास से फ्रांसिसियों को खदेड़ने के लिए भारतीय सेनाओं की एक बहुत बड़ी सेना भेजी। अंग्रेज उनकी सहायता कर रहे थे। 4 नवंबर 1746 ई. को अदियार नदी के तट पर दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। इसी युद्ध को 'संत थोनी का युद्ध' भी कहा जाता है। इस युद्ध में फ्रांसीसी कप्तान, पांडीज ने अनवरुद्दीन के पुत्र महफूज खान को पराजित कर दिया। फ्रांसिसियों के पास केवल एक हजार सैनिक थे लेकिन अपने रण-कौशल के बल पर उन्होंने दस हजार की सेना को पराजित कर दिया।

दूसरी ओर अंग्रेजों ने 6 सितंबर 1748 ई. से 15 अक्तूबर 1748 ई. तक पांडिचरी को चारों ओर से घेरे रखा। लेकिन डूप्ले ने उनका बहादुरी के साथ मुकाबला किया और अंग्रेजों को संधि करने पर मजबूर कर दिया। इस घटना ने डूप्ले को भारत में एक लोकप्रिय छवि प्रदान की और वे अभिनेता बनकर उभरे। इस संधि के बाद युद्ध समाप्त हो गया और ऐलाशपै-1748 की संधि हुई इसे ही एक्स-ला-शापेल (Aix-La-Chapelle-1748) कहते हैं। इसके अनुसार मद्रास अंग्रेजों को वापस कर दिया गया। फ्रांस को मद्रास के बदले क्यूबेक (Canada) मिला और अंग्रेजों को यह वादा करना पड़ा कि वह पांडिचेरी पर हमला नहीं करेंगे।

प्रथम कर्नाटिक युद्ध में फ्रांसिसियों को यह एहसास हो गया कि एक छोटी-सी यूरोपीय सेना भी भारतीय सेनाओं की सहायता से भारत की बड़ी से बड़ी सेना का मुकाबला कर सकती है। केवल भारतीय सेनाओं को यूरोपीय शैली में प्रशिक्षण की आवश्यकता होगी।

राजनीतिक वर्चस्व प्राप्त करने के पश्चात् डूप्ले ने हैदराबाद और कर्नाटिक के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। चिनकिलिच ख़ान निजामुल मुल्क, जिसने स्वतंत्र हैदराबाद रियासत की बुनियाद डाली थी, की 1748 ई. में मृत्यु हो गयी। डूप्ले ने निजाम के बेटे नासिर जंग के बदले उनके पोते मुजफ़्फ़रजंग का साथ दिया। 1749 ई. में कर्नाटिक के नवाब अनवारुद्दीन की मृत्यु हो गयी। डूप्ले ने उनके बेटे मुहम्मद अली की जगह उनकी नाजायज संतान चंदा साहेब का साथ दिया। अंग्रेजों के पास इसके सिवा कोई चारा न था कि वे हैदराबाद में नासिर जंग और कर्नाटिक में मुहम्मद अली का साथ दें। इस तरह इन दो रियासतों में उत्तराधिकार के संघर्ष के कारण आंग्ल-फ्रांसीसी युद्ध (1749-54) की शुरुआत हुई।

द्वितीय कर्नाटिक युद्ध (1749-54)

यह युद्ध उस समय शुरू हुआ जब यूरोप में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच शांति थी। इससे यह सिद्ध होता है कि यह युद्ध व्यापारिक एकाधिकार के उद्देश्य से लड़ा गया न कि पारंपरिक शत्रुता के कारण।

3 अगस्त, 1749 ई. को फ्रांसीसी सेना ने ईरानी सिपाहियों के साथ मिलकर कर्नाटिक की राजधानी आरकोट (अंबूर) पर हमला कर दिया। युद्ध में अनवारुद्दीन मारा गया। उनके बड़े लड़के महफूज ख़ान को गिरफ़्तार कर लिया गया। लेकिन उनका छोटा बेटा मुहम्मद अली ख़ान वल्लाजाह किसी तरह भाग निकलने में सफ़ल हो गया। उसने त्रिचनापल्ली में शरण ली और अपने आपको आरकोट का नवाब घोषित कर दिया। अंग्रेजों ने उसका साथ दिया।

चंदा साहेब और फ्रांसीसी अधिकारी जेक्स लॉ ने मिलकर त्रिचनापल्ली को चारों ओर से घेर लिया। इस मौक़े पर नौजवान अंग्रेज सैनिक अधिकारी रॉबर्ट क्लाइव ने चमत्कारिक ढंग से केवल 200 यूरोपीय सैनिकों एवं 300 सिपाहियों की सहायता से चंदा साहेब की राजधानी आरकोट पर 11 सितंबर 1751 ई. को कब्जा कर लिया। इस लड़ाई का मूल उद्देश्य त्रिचनापल्ली को चंदा साहेब के कब्जे से आजाद कराना था। योजना सफल रही। चंदा साहेब को अपनी भारी–भरकम सेना को वापस बुलाना पड़ा ताकि आरकोट को दोबारा अपने कब्जे में किया जा सके। क्लाईव और उसकी छोटी–सी टुकड़ी ने 50 दिनों तक आरकोट पर कब्जा बनाये रखा। चन्दा साहेब को मुंह की खानी पड़ी। बाद में अंग्रेजो ने भारतीय सेनाओं की सहायता से उन्हें अनेक मोर्चों पर पराजित किया। अंत में चंदा साहेब को आत्मसमर्पण करना पड़ा और उसे सजा–ए–मौत दे दी गयी। फ्रांसीसियों ने कर्नाटिक से अपना दावा पूरी तरह से त्याग दिया।

लेकिन हैदराबाद में फ्रांसिसियों का वर्चस्व बना रहा। मुजफ़्फ़रजंग को निजाम और दक्कन का सूबेदार घोषित किया गया। इसके बदले में फ्रांसिसियों को एक बहुत बड़ी जागीर प्रदान की गयी। यह जागीर वल्दावूर की थी, जो कृष्णा से केप कमरुन तक फैली हुई थी। 1751 ई. में मुजफ़्फ़रजंग को मार डाला गया और सलाबत जंग उसका उत्तराधिकारी बना। फ्रांसिसियों के साथ उसकी भी दोस्ती बनी रही। हैदराबाद के फ्रांसीसी अधिकारी बस्सी ने मुगल शहंशाह अहमद शाह से फ़रमान हासिल कर लेने के बावजूद सलाबत जंग को दक्कन का शासक घोषित किया।

लेकिन कर्नाटिक की पराजय फ्रांसीसियों के लिए बहुत बड़ा धक्का था। फ्रांसीसी सरकार जो लगातार कठिनाइयों से जूझ रही थी, इस पराजय को सहन न कर सकी। इसलिए उसने 1754 ई. में डूप्ले को फ्रांस वापस बुला लिया। इस तरह कर्नाटिक के इस दूसरे युद्ध में कर्नाटिक पर अंग्रेजों का वर्चस्व स्थापित हो गया, जबकि फ्रांस निजाम तक सिमट कर रह गया।

तृतीय कर्नाटिक युद्ध (1758-63)

तीसरा कर्नाटिक युद्ध (1758-63) सप्त वर्षीय यूरोपीय युद्ध (1756-63) के साथ शुरू हुआ। यह युद्ध कर्नाटिक तक ही सीमित नहीं रहा। फोर्ट सेंट डेविड के इंग्लिश गवर्नर और लेफ्टिनेंट कर्नल रॉबर्ट क्लाइव ने 1757 में चंद्रनगर पर कब्जा कर लिया। चंद्र नगर बंगाल में फ्रांसिसियों का गढ़ समझा जाता था। क्लाइव, प्लासी के युद्ध (23 जून, 1757) में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के ख़िलाफ़ मिली जीत में भी प्रमुख भूमिका निभा चुका था। इसलिए इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक स्थिति बहुत ही सुदृढ़ हो चुकी थी।

लेकिन कर्नाटिक का युद्ध अधिक निर्णायक सिद्ध हुआ। फ्रांस ने काऊंट डी लैली को पांडिचेरी का गवर्नर नियुक्त किया। उसने 2 जून, 1758 ई. को फोर्ट सेंट डेविड पर कब्जा कर लिया। उसने जल्द ही नागपुर पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और तंजौर में प्रवेश कर गया। फिर उसने मद्रास पर हमला किया और बूसी से इसके लिए सहयोग मांगा। यह एक बहुत बड़ी भूल थी। हैदराबाद पूरी तरह फ्रांसिसियों के कब्जे में था। बूसी स्वयं भी युद्ध नहीं चाहता था। ब्रिटिश सेना ने सलाबत जंग को मजबूर कर दिया कि 80 मील लंबे और 20 मील चौड़े भू–भाग को वह अंग्रेजों के हवाले कर दे। प्लासी युद्ध में जीत के पश्चात् अंग्रेजी सेना ने कर्नल फोर्ड के नेतृत्व में उत्तरी सरकार पर दिसंबर 1758 ई. में और मसूलीपट्टनम पर अप्रैल 1759 में कब्जा कर लिया। लेकिन सर्वाधिक निर्णायक युद्ध 22 जनवरी,

1760 ई. में लड़ा गया जहां लैली (Lally) को पराजय का सामना करना पड़ा। आयरकूट (Eyer Coote) के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने लैली से पांडिचेरी में दोबारा मुकाबला किया और पांडिचेरी पर आधिपत्य कायम कर लिया और लैली को आत्म-समर्पण (1761) पर विवश होना पड़ा।

1763 ई. में सप्त वर्षीय युद्ध का अंत हुआ और 10 फरवरी, 1763 ई. को एक संधि पर हस्ताक्षर हुये। दूसरी बातों के अलावा उस संधि में यह सुनिश्चित किया गया कि पांडिचेरी फ्रांस के ही कब्जे में रहेगा इसके अलावा 5 बंदरगाह और अनेक फैक्टरियां भी फ्रांस की ही रहेंगी। लेकिन उनकी स्थिति केवल व्यापारी केंद्र की होगी। वे सेना या सुरक्षा गार्ड आदि नहीं रख सकेंगे।

लैली (Lally) जब फ्रांस वापस गया तो उस पर गद्दारी का आरोप लगा और उसे सजा-ए-मौत सुना दी गयी। वह बली का बकरा बना दिया गया। फ्रांसीसियों की पराजय में केवल उसी पर दोष देना सही नहीं होगा। यद्यपि उसने कई बड़ी गलतियां भी की थीं। 1758 ई. में हैदराबाद से बूसी को बुलाना एक बड़ी-सी गलती थी। लेकिन फ्रांसिसियों के पराजय की असल वजह कंपनी की नीतियां और फ्रांसीसी सरकार का ढुल-मुल रवैया था।

'फ्रांसीसी कंपनी' एक सरकारी औद्योगिक इकाई थी जिसके डायरेक्टर की नियुक्ति वहां का राजा किया करता था। जबकि इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी एक निजी कंपनी थी और अपने आप में फैसला लेने के लिए स्वतंत्र थी। वह एशिया में व्यापार के माध्यम से मुनाफ़ा कमाती थी और सरकार पर निर्भर नहीं थी।

फ्रांस ने भारत को कभी अपना मुख्य लक्ष्य स्वीकार नहीं किया। वह हमेशा अपना ध्यान यूरोपीय देशों पर ही केंद्रित किये रहा। दूसरी ओर अंग्रेजों ने हमेशा समुद्रों एवं दूर-दराज के इलाकों विशेषकर भारत पर ध्यान केंद्रित रखा।

फ्रांस, भारत की उलझी हुई राजनीतिक गुत्थियों को समझने में असफल रहा, जबकि अंग्रेजों को इस क्षेत्र में महारथ हासिल थी। इसके अलावा फ्रांस कभी भी नौसैनिक शक्तियों (Naval forces) में अंग्रेजों पर वर्चस्व हासिल न कर सका।

इस तरह तीसरे कर्नाटिक युद्ध के बाद भारत में फ्रांसिसियों की चुनौतियां समाप्त हो गयीं और भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना की आधारशिला रख दी गयी।

बंगाल की विजय

18वीं शताब्दी में बंगाल सबसे अधिक संपन्न रियासत मानी जाती थी। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी इस रियासत से सर्वाधिक लाभ उठाती थी इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल में अपनी शक्ति को बढ़ाती। ऐसा करने में उसे कुछ रियायतें भी उपलब्ध थीं। कंपनी का मुख्यालय कलकत्ता में ही स्थित था। 'डच' और 'फ्रेंच' भी बंगाल में थे लेकिन वे अपना कारोबार अधीनस्थ कारखानों के माध्यम से चलाते थे, जैसे डच की चिनसूरा और फ्रेंच का चन्द्रनगर।

1756 ई. में सिराजुद्दौला अली वर्दी ख़ान का उत्तराधिकारी बना। वह जवान और एक अनुभवहीन व्यक्ति था। इसके अलावा उसके परिवार में भी उसके अनेक शत्रु थे। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी दक्षिण में फ्रांसीसी कंपनी से लड़ रही थी। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब सिराजुद्दौला की जानकारी और अनुमति के बग़ैर ही कलकत्ता में सैनिक तैयारियां शुरू कर दीं। सिराजुद्दौला ने कंपनी को ऐसा न करने का आदेश दिया लेकिन कंपनी ने इसे मानने से इन्कार कर दिया।

अंग्रेजों ने उस दस्तक (मुग़ल फ़रमान) का भी दुरुपयोग कर दिया जिसे फ़र्रुखसियर ने 1717 में उसे दिया था। ऐसा समझा जाता था कि मुगल फ़रमान के अनुसार, केवल उन्हीं चीजों पर छूट मिलेगी जिसे ईस्ट इंडिया कंपनी यूरोप से आयात किया करती थी। इंग्लिश अधिकारियों को कंपनी में नौकरी करने वालों की चीजों पर कोई दावा न था। लेकिन कंपनी के कर्मचारी अनुचित रूप से "दस्तक" का दुरुपयोग करने लगे। उन्होंने "दस्तक" को भारतीय व्यापारियों के हाथ बेचना भी शुरू कर दिया,

जिससे बंगाल को बहुत बड़ा आर्थिक नुकसान हुआ। इसके अलावा सिराज के पास यह शिकायत भी पहुंची कि अंग्रेजों ने कृष्णा दास को शरण दे दी है, जो कि राजा राजबल्लभ का बेटा है। राजा राजबल्लभ, सिराज का कट्टर शत्रु था।

सिराज ने 17 जून, 1756 ई. को कलकत्ता पर चढ़ाई की तथा 20 जून को उस पर कब्जा कर लिया। उसकी लंबी-चौड़ी सेना और उसके अकस्मात आक्रमण ने अंग्रेजों को आश्चर्यचकित कर दिया था। यद्यपि अधिकांश अंग्रेज नदी की तराई में 20 मील दूर फुल्टा भाग गये थे लेकिन कुछ लोग गिरफ़्तार करके जेल में बन्द कर दिये गये।

काल कोठरी की घटना

'ब्लैक होल' शब्द का अभिप्राय स्थानीय बंदीगृह से है। इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी जे. जेड हालवेल हैं, जो स्वयं इस कोठरी में अन्य अंग्रेजों के साथ बंदी थे। हालवेल ने ही इसे 'द ब्लैक होल' की संज्ञा दी है। हालवेल के विवरणानुसार, 18 फुट लंबे एवं 14 फुट चौड़े एक कमरे में जून माह में (जब कलकत्ता का मौसम अत्यंत गर्म एवं उमसपूर्ण होता है) 146 अंग्रेज बंदियों को ठूंस दिया गया। इसके बाद रात भर में गर्मी एवं दम घुटने से 123 लोगों की मौत हो गयी।

यद्यपि स्थानीय प्रमाणों से हालवेल के विवरण एवं उसमें दर्शाये गये लोगों की संख्या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होती है। तत्कालीन समय में पश्चिमी लेखकों द्वारा इस तरह के विवरण देना एक आम बात थी। ये लेखक भारतीय शासकों को बर्बर सिद्ध करके भारत में ब्रिटिश शासन को उचित सिद्ध करने हेतु प्रयासरत रहते थे। वैसे भी इस घटना के समय बंगाल के तत्कालीन शासक सिराजुद्दौला का इससे कोई संबंध नहीं था।

लेकिन सिराज ने एक ग़लती की। उसने फुल्टा में जाकर अंग्रेजों को पूरी तरह नष्ट नहीं किया। और न ही कलकत्ता की सुरक्षा के लिए कोई विशेष व्यवस्था की। दुर्भाग्य से इतिहास ऐसी गलती करने वालों को कभी माफ़ नहीं करता। अंग्रेजों ने रॉबर्ट क्लाइव और वाटसन के नेतृत्व में जनवरी, 1757 ई. में दोबारा कब्जा कर लिया और सिराज को विवश होकर अलीनगर संधि पर हस्ताक्षर करना पड़ा। अलीनगर, कलकत्ता का नया नाम रखा गया था और इस संधि में अंग्रेजों की लगभग सभी मांगें स्वीकार कर ली गयी थीं।

अंग्रेजों का आत्मविश्वास इतना बढ़ चुका था कि मार्च, 1757 ई. में उसने फ्रेंच अधीनस्थ चन्द्रनगर पर भी हमला कर दिया और नवाब की संप्रभुता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया। सिराज चाहता था कि अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की शक्तियों का संतुलन बना रहे, इसलिए उसने अंग्रेजों को आदेश दिया कि फ्रांसीसियों के साथ शत्रुता से बाज आ जाए। लेकिन आदेश का पालन करने के बदले रॉबर्ट क्लाइव ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचना प्रारंभ कर दिया और साजिश करके सिराज के लगभग सभी दरबारियों को मिला लिया। साजिशकर्ताओं में प्रमुख थे—मीर जाफ़र, कमांडर-इन-चीफ मीर बख़्शी, बैंकर जगत सेठ, व्यापारी अमीर चंद।

प्लासी के युद्ध में इन षड्यंत्रकारियों की वजह से सिराजुद्दौला को 23 जून, 1757 को रॉबर्ट क्लाइव की छोटी-सी सेना से पराजित होना पड़ा। मीर जाफ़र और राय दुर्लभ की साजिशों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रॉबर्ट क्लाइव ने वादे के अनुसार, मीर जाफ़र को बंगाल का नवाब घोषित

किया गया। बाद में सिराज को बंदी बना लिया गया और मीर जाफ़र के बेटे मीरन के आदमियों ने उसे मौत के घाट उतार दिया।

जैसा कि समझा जा रहा था अंग्रेजों ने कठपुतली नवाब मीर जाफ़र से बहुत बड़ी रकम वसूल की। क्लाइव को दो लाख चौंतीस हजार पाऊंड मिले, जबकि वाट्स को 80,000 पाऊंड दिये गये। अन्य अधिकारियों को भी उनके पदों के अनुसार राशि प्रदान की गयी। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी को चौबीस परगना मिला, जिसकी आय 1,50,000 प्रति वर्ष थी। बंगाल की इस लूट का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि लूट की यह सामग्री फोर्ट विलियम भेजी गयी थी और जिसे लेकर 30 नावों का एक काफिला गया था।

मीर जाफ़र 1757 से 1760 तक बंगाल का नवाब रहा। लेकिन इस अवधि में अंग्रेजों ने रियासत का सारा ख़जाना खाली कर दिया। अब मीर जाफ़र कंपनी के किसी काम का नहीं रहा। हॉलवेल (Holwel) जैसे कुछ ब्रिटिश अधिकारियों ने मीर जाफ़र का विरोध प्रारंभ कर दिया। 27 सितंबर 1960 ई. को मीर जाफ़र के दामाद मीर कासिम को नवाब बनाया गया। यह एक शांतिपूर्ण सत्ता हस्तांतरण था। उसने ईस्ट इंडिया कंपनी को बर्द्धान, मिदनापुर और चिटगांव प्रदान किए। शुरू में वह भी अंग्रेजों के बस में रहा। लेकिन ''दस्तक'' के दुरुपयोग से उसका माथा ठनका जिसने पूरी अर्थव्यवस्था को पंगु बना कर रख दिया था। जब वह उसके दुरुपयोग को रोकने में सफल न हो सका तो उसने बंगाल में समस्त व्यापार को ''करमुक्त'' घोषित कर दिया था। अब यह कंपनी की सहनशक्ति से बाहर था।

मीर जाफ़र को दोबारा नवाब घोषित किया गया। मीर कासिम मुंगेर चला आया और उसे ही अपनी राजधानी घोषित कर दिया। उसने मुगल सम्राट शाह अलाम द्वितीय और अवध के नवाब शुजाउद्दौला की सहायता से अग्रेजों से एक बार फिर टक्कर लेने की सोची और 22 अक्टूबर 1764 ई. को बक्सर युद्ध की शुरुआत हुई।

मेजर हेक्टर मुनरो के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना अधिक शक्तिशाली एवं आधुनिक शस्त्रों से लैस थी, जबकि भारतीय शासकों की संयुक्त सेना लचर साबित हुई। इस युद्ध में औद्योगिक एवं तकनीकी पिछड़ेपन का ख़मियाजा भारतीय सेना को उठाना पड़ा।

मीर जाफ़र को दोबारा बंगाल की गद्दी पर बिठाया गया और शाह आलम और शुजाउददौला ने 1765 ई. में इलाहाबाद में एक ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर किये। इस संधि में मुगल शाहंशाह ने अपने एक 'फ़रमान' के माध्यम से ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा में दीवानी अधिकार सौंप दिया। इसके बदले में मुगल बादशाह ने कंपनी की ओर से 26 लाख की पेंशन लेना स्वीकार किया। बंगाल के नवाब को 53 लाख की पेंशन सुनिश्चित की गयी।

यह भी फैसला लिया गया कि शुजाउद्दौला इलाहाबाद और कड़ा को मुगलों के हवाले कर देगा और बनारस की जमींदारी बलवंत राय को दे देगा। बलवंत राय कंपनी का पुराना वफ़ादार था।

बंगाल में 1765 से 1772 के बीच एक विशेष प्रकार की द्वि-स्तरीय सरकार का गठन हुआ। ईस्ट इंडिया के सुझाव पर नवाब ने दो नायब दीवान—राजा शिताब राय और रजा खान, को नियुक्त किया। लेकिन उन्होंने कंपनी के अधीन काम करना शुरू किया क्योंकि दीवानी अधिकार कंपनी के पास थे, जबकि प्रशासनिक एवं कानून व्यवस्था की जिम्मेदारी नवाब की थी, जिसके कारण जनता को ही हर हाल में परेशानी उठानी पड़ी।

यहां यह प्रश्न उठता है कि कंपनी ने प्रशासनिक अधिकार अपने पास क्यों नहीं रखा। इसका एक कारण तो यह था कि ईस्ट इंडिया कंपनी मूल रूप से एक व्यापारिक कंपनी थी। उसे प्रशासन का कोई अनुभव नहीं था और कंपनी दर्शनशास्त्र के इस मूलमंत्र पर विश्वास करती थी कि :

मुफ़्त हाथ आए तो बुरा क्या है?

मैसूर का संघर्ष

हैदर अली, फ़तह मुहम्मद का पुत्र, मक्का के क़ुरेश ख़ानदान से था और मैसूर रियासत का हुक्मरां था। बंगलौर से 23 मील उत्तर में स्थित देवनहल्ली कस्बे को 1749 ई. में उसने ख्याति प्रदान की। हैदराबाद से वापसी पर उसके पास अत्यधिक धन-दौलत थी। वह देवनहल्ली में स्थायी तौर पर आ बसा और अपने धन से एक सेना तैयार करने लगा। सैनिकों के प्रशिक्षण के लिए उसने फ्रांसिसियों से सहयोग लिया। 1775 ई. में वह डिंडीगुल का फौजदार नियुक्त हुआ और पोलीगरों को दबाया और फ्रांसीसी इंजीनियरों की सहायता से एक हथियार-गृह की स्थापना की।

बाद में वह, मैसूर के राजा और सेना प्रमुख की शत्रुता का लाभ उठाते हुए 1761 ई. में, मैसूर का शासक बन बैठा। और राजा को बंदी बना लिया। उसने कभी अपने को राजा घोषित नहीं किया। यद्यपि उसका बेटा टीपू सुल्तान कहलाया लेकिन सुल्तान उसका नाम था, उपाधि नहीं।

प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-69)

पहला आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-69) उस समय शुरू हुआ, जब अंग्रेज निजाम हैदराबाद और मराठों का सहयोगी था। हैदर अली अच्छा जनरल ही नहीं था बल्कि एक अच्छा राजनायिक भी था। उसने उनके गठबंधन में दरार डाल दी। उसने अपने बेटे टीपू को निजाम के दरबार में भेजा वहां उसका न केवल स्वागत किया गया बल्कि उसे नसीबुद्दौला और फतह अली खान बहादुर कहकर सम्बोधित किया गया। जब हैदर तीरुवन्नमलाई में संकट में फंस गया तो टीपू उसकी सहायता को आ गया। हैदर और टीपू ने मिलकर तीरुप्पतूर और वनियामबारी किले पर विजय प्राप्त की। टीपू ने मंगलौर पर कब्जा कर लिया और हैदर ने मालाबार तट से अंग्रेजों को खदेड़ दिया। अंग्रेज मद्रास के पास 1769 ई. में संधि करने पर मजबूर हो गये। संधि की शर्तें हैदर ने तय की।

द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-84)

दूसरा आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-84) उस समय प्रारंभ हुआ, जब अंग्रेजों ने माहे पर हमला किया। माहे हैदर की रियासत का एक हिस्सा था। वह और टीपू कर्नाटिक की राजधानी आरकोट पहुंचे और अपने दूसरे बेटे करीम को पार्टे नोवो पर हमले के लिए भेजा। अंग्रेजों को इनसे पहला पाला पेरमबक्कम में पड़ा, जब टीपू ने उन पर हमला कर दिया और बैली (Baillie)के नेतृत्व में जा रही उनकी सेना को परेशान कर दिया। बैली कंजीवरम जाना चाहता था लेकिन टीपू ने लगातार उनपर हमले जारी रखे। रॉकेटों और पैदल सैनिकों ने उनका जाना मुश्किल कर दिया।

टीपू की पैदल सेना इतने सधे हुए ढंग से उन पर हमले कर रही थी कि बैली ने सोचा कि कहीं वह हैक्टर मुनरो के नेतृत्व में आ रही ब्रिटिश सेना तो नहीं, जो उनकी सहायता के लिए उन्हीं के पास आ रही है। अंत में बैली ने आत्म-समर्पण कर दिया और बैली की इस पराजय को थॉमस मुनरो ने अंग्रेजों के लिए सबसे बड़ा धक्का करार दिया।

यहां पर हैदर से एक बहुत बड़ी गलती हुई। उसे चाहिये था कि वह अपनी पूरी शक्ति के साथ मुनरो पर हमला कर देता और उसे पूरी तरह नष्ट कर देता या कम से कम उसे मद्रास तक खदेड़ देता। परंतु उसने टीपू के नेतृत्व में एक छोटी सी टुकड़ी भेजी ताकि वह मुनरो को समझा-बुझा सके। ये सारी घटनाएं सितंबर के शुरू के दो सप्ताह में घटित हुईं। टीपू ने आरकोट पर विजय प्राप्त की। फिर उसने सतगूर, अंबर और टिआगर किले पर कब्जा कर लिया। वह वांडीवाश पर भी कब्जा करना चाहता था लेकिन पार्टोनोवो में हैदर की पराजय ने उनकी योजना को बदलने पर मजबूर कर दिया। हालांकि उन्होंने करनल ब्रेथवेट (Braithwaite) को तंजोर में फरवरी, 1782 ई. को करारी मात दी थी। फिर टीपू को फ्रांसीसियों के सहयोग से मालाबार तट की ओर भेजा गया। तभी उसे अपने पिता के मृत्यु की सूचना मिली और वह वापस लौट आया।

हैदर को एक विषैला फ़ोड़ा निकल आया था (Carbuncle) जिसने अन्तत: उसकी जान ले ली। 7 सितंबर, सन् 1782 ई. में नरसिंघायनपर नामक स्थान पर चित्तौड़ से कुछ दूरी पर उसकी मृत्यु हो गयी। उसके मृत्यु की सूचना कुछ दिनों तक छुपा कर रखी गयी क्योंकि टीपू वहां से काफ़ी दूरी पर था, सेना में संभावित बागियों से ख़तरा था।

हैदर ने अपने बेटे और उत्तराधिकारी टीपू के लिए एक बहुत बड़ी रियासत छोड़ी और टीपू नवाब टीपू सुल्तान बहादुर के नाम से गद्दी पर बैठा। टीपू सुल्तान का राज्य उत्तर में कृष्ण नदी से दक्षिण में ट्रावनकोर और तिन्नेवली, पूर्व में पूर्वी घाट और पश्चिम में अरब सागर तक फैला हुआ था। टीपू अपनी शक्ति को और मजबूत बनाने के साथ युद्ध में भी व्यस्त रहा और यह सिलसिला 1784 तक चलता रहा। दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत थे कि "शन्ति" में ही हम सब की भलाई है। 11 मार्च, 1784 में मंगलौर में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। टीपू ने अंग्रेजों द्वारा कब्जा किए गये सभी इलाकों को अपने कब्जे में ले लिया था। दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत थे कि वे एक-दूसरे के शत्रुओं को सहयोग नहीं देंगे और न एक दूसरे के मित्रों पर हमले करेंगे, हालांकि यह संधि मराठाओं के लिए अर्थहीन सिद्ध हुई। हालांकि मंगलौर की यह संधि टीपू की एक राजनयिक विजय थी। लेकिन यह ब्रिटिश साम्राज्य के लिए एक बहुत बड़ा दबाव भी था। मैक कर्टनी (Mc Cartney) के शब्दों में : "शान्ति हम सब के लिए अनिवार्य है क्योंकि यदि हम कुछ और महीनों तक युद्ध में व्यस्त रहते हैं तो हम सब युद्ध के बोझ तले डूब जायेंगे।"

इस संधि ने टीपू को सांस लेने का अवसर प्रदान किया ताकि वह अपनी स्थिति को मजबूत बना सके, प्रशासन की ओर ध्यान केंद्रित कर सके और सेना को नये सिरे से व्यवस्थित कर सके। उसने अपनी हुकूमत को "सरकारे खुदादाद" का नाम दिया। उसने सभी धर्मावलंबियो को पूजा करने की स्वतंत्रता प्रदान की। वह मुगलों की शासन व्यवस्था से पूरी तरह प्रभावित था। वह पश्चिम के राजनीतिक संस्थाओं से भी प्रभावित था।

डॉडवेल (Dodwell) के अनुसार : "टीपू भारत का पहला ऐसा शासक था जिसने शासन के लिए पश्चिमी शैली अपनायी।"

टीपू अपनी आर्थिक स्थिति में भी सुधार लाना चाहता था। उसने खेती योग्य भूमि के क्षेत्र को बढ़ाने की योजना बनायी और खाली पड़ी हुई बजंर भूमि के कर में छूट देने की घोषणा की। उसने नकदी फसलों (Cash crop), गन्ना, गेहूं, जौ, पान, पाईन, और संदल आदि की खेती को प्रोत्साहित किया। लेकिन उसने भांग की खेती पर रोक लगा दी। उसने जागीर देने वाली प्रथा को समाप्त कर दिया और मासिक वेतन देने का फैसला किया।

उसने मंदिरों, मस्जिदों और ब्राह्मणों को इनाम में भूमि देने के बदले नक़द राशि देने को अधिक प्रोत्साहन दिया। उसने व्यापार एवं उद्योग को बढ़ावा दिया और आमोज और जेद्दा में कारखाने खोले। उसने बंगलौर, चीतल दुर्ग, श्रीरंगापट्टनम और बेदनूर में नये कारखाने खोले, जिसमें भारतीयों के अलावा यूरोपीय लोगों को भी नौकरी पर रखा। इन कारखानों में अस्तूरे, चाकू, बन्दूकें, पिस्तौल, पाऊडर, कागज, घडियां आदि बनाये जाते थे। वह अकेला ऐसा भारतीय शासक था, जो हथियार के मामले में आत्मनिर्भर था। उसने अपने राजदूतों को विभिन्न देशों में भेजा। बर्मा, अफ़गानिस्तान, ईरान, तुर्की, मिस्र, फ्रांस आदि देशों से उसने राजनयिक संबंध स्थापित किए। उसने फ्रांसीसी स्वतंत्रता का महोत्सव मनाया अपनी राजधानी में स्वतंत्रता का वृक्ष लगाया और जैकोबिन क्लब का सदस्य भी बना। जैकोबिन क्लब एक प्रसिद्ध रेडिकल ग्रुप है।

तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-92)

टीपू ने अपने पिता के मिशन को आगे बढ़ाना जारी रखा और दक्षिण भारत में अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए 1789 में ट्राबनकोर पर हमला कर दिया। यहीं से तीसरे मैसूर युद्ध की शुरुआत हुई।

कॉर्नवालिस ने इसे भारत में अंग्रेजों के लिए एक बहुत बड़ा खतरा महसूस किया। मराठा और निजाम को अंग्रेजों से अधिक मैसूर से खतरा महसूस होने लगा। इस तरह टीपू के सभी शत्रु–अंग्रेज, मराठा और निजाम ने आपस में हाथ मिला लिया।

1790 ई. में ब्रिटिश सेना ने मैसूर की ओर मार्च शुरू किया। पहली टुकड़ी जनरल मीडो (Medow) के नेतृत्व में कोयंबटूर की ओर बढ़ी। दूसरी टुकड़ी जनरल अबेरक्रोंबी (Abercromby) के नेतृत्व में मालाबार तट की ओर बढ़ी। लेकिन टीपू ने जिस तेजी और चतुराई से अपने क्षेत्रों की रक्षा की उसने लॉर्ड कार्नवालिस को व्यक्तिगत रूप से इस लड़ाई में शामिल होने पर मजबूर कर दिया।

मार्च, 1791 ई. में कार्नवालिस ने बंगलौर पर कब्जा कर लिया और श्रीरंगापट्टनम की ओर बढ़ा। टीपू ने ब्रिटिश सेना की रसद आपूर्ति को रोकने में सफलता प्राप्त कर ली, जिससे अंग्रेजी सेना की हालत नाजुक हो गयी। लेकिन तभी मराठा ने बड़े स्तर पर गल्ले की व्यवस्था कर दी, जिससे उनकी जान बच सकी। श्रीरंगापट्टनम पर जनवरी, 1792 ई. में दोबारा कब्जा हो गया और टीपू को मजबूर होकर 23 फरवरी, 1792 ई. को एक संधि पर हस्ताक्षर करना पड़ा। वही संधि ''श्रीरंगापट्टनम की संधि'' कहलाती है।

श्रीरंगापट्टनम की संधि

1. टीपू का आधा राज सहयोगियों में बांट दिया जायेगा।
2. तीन करोड़ तीस लाख रुपये टीपू को अदा करने होंगे। चाहे वह उसे सोने की मुहर के रूप में अदा करे या बुलियन के रूप में। एक करोड़ पैंसठ लाख रुपये तो तुरंत देने थे और शेष राशि तीन किस्तों में अदा करनी थी। लेकिन कुल रकम एक वर्ष में अदा हो जानी थी।
3. चारों शक्तियों—अंग्रेज, मराठा, निजाम और कर्नाटिक के सभी बन्दियों को रिहा करना था।
4. टीपू के दो बेटों को अंग्रेजों के संरक्षण में उस समय तक रहना था जब तक संधि की समस्त शर्तें पूरी हो जाएं।

जिन दो बेटों को संरक्षण में लिया गया वे थे—अब्दुल ख़ालिक (8 वर्ष) और मुइज़ुद्दीन (5 वर्ष)। हालांकि इन दोनों बच्चों की अच्छी देखभाल की गयी और कार्नवालिस ने उन्हें सोने की घड़ी उपहार में दी।

टीपू की असफलता का मुख्य कारण यह था कि उसने एक ही समय में तीन शत्रुओं से लड़ाई छेड़ दी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि वह केवल अंग्रेजों से लड़ा होता तो निश्चित रूप से विजयी होता। कार्नवालिस ने स्वयं इसे स्वीकार किया है। टीपू की सेना दुनिया की सबसे अच्छी टुकड़ी थी और दुश्मन को लगातार परेशान करती रहती थी। मुनरो ने स्वीकार किया है कि कार्नवालिस टीपू को कभी पराजित नहीं कर सकता था यदि मराठा अंग्रेजों को सहायता न देते।

टीपू की असफलता का एक कारण यह भी था कि उसकी सुरक्षा व्यवस्था, मारक क्षमता की तुलना में कमजोर थी। सभंवत: उसे उस मुहावरे पर अक्षरत: विश्वास था कि 'सुरक्षा से आक्रमण ज्यादा उपयुक्त है।'

बहरहाल वह बंगलौर और श्रीरंगापट्टनम को बचाने में असफल रहा। उसने एक गलती यह भी की कि अर्काट में कामयाब होने के बावजूद उसने अंग्रेज सेना पर चढ़ाई नहीं की जबकि उस समय अंग्रेजी सेना न केवल कमजोर थी बल्कि उसका मनोबल भी गिरा हुआ था। उसका पिता हैदर अली द्वितीय मैसूर युद्ध में यही ग़लती कर चुका था।

टीपू की पराजय की एक वजह विज्ञान और तकनीक में यूरोपीय सेना का आगे होना भी था। यद्यपि टीपू और उसके पिता ने सेना को आधुनिक हथियारों से लैस करने की पूरी कोशिश की थी लेकिन वह अंग्रेजी सेना के मुकाबले बहुत पीछे थी।

अंग्रेजों को आदमियों, पैसों और आवश्यक सामग्रियों की सहायता इंग्लैड, निजाम और मराठे कर रहे थे। इसके विपरीत टीपू के अधिकांश खजाने पर मराठों ने कब्जा कर लिया था। इतनी सारी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद टीपू बहुत बहादुरी से लड़ा और लगातार 2 वर्षों तक सघंर्ष करता रहा। संधि के बाद भी वह उसी शानोशौकत से शासन करता रहा। अंग्रेज भी यह समझते थे कि टीपू दब जरूर गया है लेकिन समाप्त नहीं हुआ है। उनके नजदीक भारत में उनके मुकाबले का कोई है तो वह टीपू ही है। बिना मैसूर को पराजित किए अंग्रेज भारत पर राज नहीं कर सकते थे। इसीलिए जब लॉर्ड वेलेजली गवर्नर जनरल बन कर आया तो उसने टीपू के साथ सहायक संधि करनी चाही। लेकिन टीपू ने ऐसा करने से इनकार कर दिया और चौथे आंग्ल-मैसूर युद्ध की शुरुआत हुई।

चौथा आंग्ल-मैसूर युद्ध (मार्च-मई, 1799 ई.)

एक बार फिर अंग्रेजों ने निजाम और मराठों के साथ गठजोड़ बनाया। यद्यपि इस बार मराठों ने निष्पक्ष होने की भूमिका निभाई लेकिन हैदराबाद ने अपनी वफ़ादारी और दोस्ती निभाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अंग्रेजी सेना की तीन टुकड़ियां जनरल हैरिस, जनरल स्टेवार्ट और आर्थर वेलेजली के नेतृत्व में टीपू की राजधानी की ओर बढ़ीं। 8 मार्च को स्टेवार्ट ने टीपू को सेदासरे नामक स्थान पर पराजित किया। 27 मार्च को मल्लावेल्ली नामक स्थान पर वह हैरिस से पराजित हुआ। 17 अप्रैल को अंग्रेजों ने श्रीरंगापट्टनम पर कब्जा कर लिया। इस बार मीर सादिक़ की गद्दारी की वजह से अंग्रेजी सेना किले में प्रवेश करने में सफल रही। 4 मई, 1799 ई. को टीपू अपने किले की रक्षा करता हुआ मारा गया। कृष्णराज, जो वाडियार राज का उत्तराधिकारी था, को गद्दी पर बिठा दिया गया और उससे बलपूर्वक संधि पत्र पर हस्ताक्षर करा लिया गया। इस संधि के अनुसार कनोरा, कोयंबटूर और श्रीरंगापट्टनम का इलाका कंपनी को दे दिया गया। श्रीरंगापट्टनम पर कब्जा होते ही पूर्व की संपूर्ण रियासत अंग्रेजों के अधीन हो गयी।

मराठा संघ की स्थापना और आंग्ल-मराठा युद्ध

शिवाजी की मृत्यु (1680) के बाद मराठों में कोई ऐसा बड़ा नेता मौजूद नहीं था जो उन्हें एक-जुट रख पाता। शिवाजी का पोता साहू जो एक लंबी अवधि तक (1689 से 1707) मुगलों की हिरासत में था, कमजोर, निष्क्रिय और दूसरों पर निर्भर रहने वाला बन चुका था। पेशवा का 'डी फैक्टो शासक' (वास्तविक शासक) बन कर उभरना साहू की कमजोरी को ही दर्शाता है। बालाजी विश्वनाथ पेशवा के रूप में राजा की सेवा किया करता था। लेकिन राजा की कमजोरी कहिए या पेशवा की चतुराई कि उसने राजा को अपनी कठपुतली की तरह नचाया।

बहरहाल मराठा संघ की वास्तविक स्थापना उस समय हुई जब बालाजी विश्वनाथ का बेटा बाजीराव-I (1720-40) पेशवा बना। उस समय तक मराठा राज का विस्तार उत्तर और दक्षिण में काफ़ी फैल चुका था। पेशवा ने बहुत बड़े क्षेत्र पर अपने सहयोगियों की सहायता से कब्जा कर लिया था। उनके सहयोगियों में ग्वालियर के रामोजी सिंधिया, बड़ौदा के दामाजी गायकवाड़, इन्दौर के मलहार राव होल्कर और नागपुर के राघुजी भौंसले शामिल थे। पेशवा ने खुद पूने की गद्दी संभाल रखी थी और साहू केवल नाम का राजा था।

संघ को पूरी तरह दो पेशवाओं ने संभाल रखा था। एक था बाजीराव-I (1720-40) और दूसरा बालाजी बाजी राव (1740-61)। लेकिन पानीपत के तीसरे युद्ध में अहमद शाह अबदाली के अफ़गानी सेना से पराजित (14 जनवरी, 1761) होने के बाद पेशवा कमजोर पड़ गये थे। अब उन्हें फणनिस और दूसरे मराठा प्रमुखों पर निर्भर होना पड़ा।

मराठा संघ असल में एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसके तहत मालगुजारी वसूल करके उसे जरुरतमंदों में बांटना था। मराठा सरदारों और सिपाहियों को मालगुजारी वसूलने में बहुत रुचि थी। वे ''चौथ''

और ''सरदेशमुखी'' वसूला करते थे। लेकिन उसके बटंवारे को लेकर अकसर सरदारों में मतभेद उत्पन्न हो जाता था। यही मतभेद आगे बढ़कर आपसी द्वेष का कारण बना और मराठा राज का पतन हुआ।

प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध (1775-82)

प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध उस समय प्रारंभ हुआ, जब रघुनाथ राव ने नारायण राव पेशवा की हत्या करके खुद को पेशवा घोषित कर दिया। लेकिन नारायण राव की विधवा ने माधव राव नारायण को जन्म दिया। नाना फड़नवीस के नेतृत्व में मराठा सरदारों ने नवजात माधव राव नारायण को अपना पेशवा स्वीकार कर लिया। रघुनाथ राव को ऐसे समय में किसी मित्र की तलाश थी। इसलिए उसने 7 मार्च, 1775 ई. को सूरत में अंग्रेजों से एक संधि कर ली।

सूरत की संधि

प्रावधान

1. अंग्रेज इस बात पर सहमत हुए कि वे रघुनाथ राव की 2500 सैनिकों से सहायता करेंगे।
2. रघुनाथ राव ने सालसिट और बसीन अंग्रेजों को देने पर सहमति व्यक्त की।
3. मराठे बंगाल और कर्नाटिक पर हमले नहीं करेंगे।
4. रघुनाथ राव 6 लाख रुपये जमानत राशि के रूप में जमा करेंगे।
5. सूरत और भड़ौच के कुछ भू-भाग भी अंग्रेजों को दिए जायेंगे।
6. यदि रघुनाथ राव या राघोबा पुने के साथ कोई समझौता करना चाहें तो अंग्रेजों को उसमें शामिल करना होगा।

रेगूलेटिंग एक्ट 1773 के अंतर्गत कलकत्ता कौंसिल, बम्बई और मद्रास हुकूमत से अधिक शक्तिशाली बन कर उभरी थी। कौंसिल ने बम्बई सरकार की गतिविधियों को खतरनाक, अनुचित और ग़लत करार दिया और सूरत की संधि को रद्द कर दिया। उसने एक लेफ्टिनेंट को पूना भेजा जिसने एक मार्च, 1776 ई. को उस संधि के विधानों में संशोधन किया और वहीं संशोधित संधि पुरंदर की संधि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

पुरंदर की संधि

प्रावधान

1. अंग्रेज और मराठे मिल-जुलकर शांति व्यवस्था बनाये रखेंगे।
2. इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी का कब्जा सालसिट पर बना रहेगा।
3. रघुनाथ झा गुजरात चले जायेंगे और पूना उन्हें 2500 रुपये प्रति मास पेंशन दिया करेगा।

इस बार संधि के प्रावधानों को बम्बई की सरकार ने अस्वीकार कर दिया। पूना ने भी इन प्रावधानों को लागू करने में कोई रुचि नहीं दिखायी, तभी अमेरिका में स्वतंत्रता संग्राम (1776-1781) छिड़ गया। इस युद्ध में फ्रांस ने अंग्रेजों के खिलाफ़ अमेरिका का साथ दिया। फ्रांसीसी जो अंग्रेजों के पुराने प्रतिद्वंदी थे, पूने दरबार के नजदीकी बन गये। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी का कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर नयी राजनीतिक परिस्थितियों से चिंतित हो उठा। इसलिए उसने पुरंदर की संधि को भी रद्द कर दिया। बम्बई सरकार इस कदम से खुश हुई, जबकि कलकत्ता कौंसिल ने अपने आप को अपमानित महसूस किया। बम्बई सरकार ने रघुनाथ राव के साथ पुनः समझौता किया और अंग्रेजों की सैनिक टुकड़ी सूरत भेजी गयी (नवंबर, 1778) लेकिन वह पराजित हो गयी और बम्बई हुकूमत को पूने दरबार से संधि करने पर मजबूर होना पड़ा। यही संधि वड़गाम की संधि कहलाती है।

वडगाँव की संधि

प्रावधान

1. बम्बई हुकूमत को वे सभी क्षेत्र वापस करने होंगे, जिसे उन्होंने 1773 ई. के बाद मराठों से छीन लिया था।
2. बम्बई हुकूमत बंगाल से अंग्रेजी सेना को नहीं बुलायेगी।
3. सिंधिया को भड़ौच से कुछ धनराशि दी जायेगी।

एक बार फिर इस संधि के प्रावधानों को लेकर कलकत्ता की हुकूमत और बम्बई की हुकूमत में ठन गयी। गवर्नर जनरल वारेन हैसटिंग्स (1773-1785) ने वडगाम की संधि को रद्द कर दिया। गोडर्द के नेतृत्व में बंगाल से एक सेना भेजी गयी, जिसने फरवरी, 1780 को अहमदाबाद और दिसंबर, 1780 को बसीन पर कब्जा कर लिया । लेकिन अंग्रजों की सेना को अप्रैल, 1781 में पूना में हार का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश सेना की एक दूसरी टुकड़ी कप्तान पोफम (Popham) के नेतृत्व कलकत्ता से रवाना हुई और 3 अगस्त, 1780 को उसने ग्वालियर पर कब्जा कर लिया। 16 फरवरी, 1781 को सिंधिया भी सिपरी नामक स्थान पर पराजित हो गया और उसे अंग्रेजों और पूना दरबार के बीच मध्यस्थता के लिए मजबूर होना पड़ा। जिसके नतीजे में 17 मई, 1782 ई. को पूना दरबार से अंग्रेजों की संधि हुई, जो सालबाई की संधि के नाम से जानी जाती है।

सालबाई की संधि

प्रावधान

1. ब्रिटिश रघुनाथ राव का साथ देगा लेकिन उसे पेंशन पूना दरबार से मिलेगी जो कि पेशवा का मुख्यालय है।
2. सालसिट और एलिफैंटा अंग्रेजों के हवाले कर दिया जायेगा।
3. यमुना नदी का पश्चिमी हिस्सा सिंधिया के कब्जे में रहेगा।
4. मराठा और अंग्रेज एक दूसरे के इलाक़े लौटाने पर राजी हो गये।

सालबाई की संधि क्रियांवित हुई। इससे कंपनी को बहुत लाभ हुआ। क्योंकि इसी संधि के कारण अगले बीस वर्षों तक मराठों और अंग्रेजों में शांति बनी रही। और वे अपने सबसे प्रमुख शत्रु यानी मैसूर के विरुद्ध तैयारी में जुटे रहे।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1803-06)

मराठा संघ के बीच आंतरिक मतभेद एक बार फिर युद्ध का कारण बना। बाजी राव पेशवा-II जसवंत राव होल्कर के भाई बीथूजी होल्कर की हत्या करके पूना से भाग गया। होल्कर ने विनायक राव को पूना का पेशवा बनाया। 31 दिसंबर, 1802 ई. को बाजी राव बसीन में अंग्रेजों से मिलकर एक संधि पर हस्ताक्षर दिया। कंपनी, जो इस तरह की परिस्थितियों की हमेशा प्रतीक्षा में रहती थी, उसे कठपुतली पेशवा घोषित कर दिया।

बसीन की संधि

प्रावधान

1. अंग्रेज अपने 600 हथियार बंद सिपाहियों से पेशवा की सहायता करेगा।
2. पेशवा इस बात पर सहमत हो गया कि वह 26 लाख रुपये सालाना मालगुजारी वाला क्षेत्र अंग्रेजों के हवाले कर देगा। वह इलाका था गुजरात, ताप्ती का दक्षिणी क्षेत्र, ताप्ती और नर्मदा के बीच का इलाका और तुंगभद्रा का कुछ भाग।

3. पेशवा ने वह वादा किया कि वह अपनी सेना में अंग्रेजों को छोड़कर किसी यूरोपीय को भर्ती नहीं करेगा।
4. पेशवा सूरत से अपना दावा वापस ले लेगा।
5. पेशवा, अंग्रेजों की सलाह के बगैर किसी भी विदेशी से कोई संबंध नहीं बनायेगा।
6. पेशवा को यदि कोई विवाद हैदराबाद के निजाम से या बड़ौदा के गायकवाड से होगा तो उसका निपटारा कंपनी की मध्यस्थता से होगा।

इस तरह पेशवा आर्थर वैलेजली की सहायता से 13 मई, 1803 ई. में पूना में प्रवेश कर गया और उस पर अधिकार कर लिया। लेकिन बसीन संधि से मराठा सरदार ने अपने आपको बहुत अपमानित महसूस किया। दौलत राव सिंधिया और राघुजी भोंसले ने अंग्रेजों के विरुद्ध आपस में हाथ मिला लिया। शांति स्थापित होने के बदले इस संधि से युद्ध की शुरुआत हो गयी। यह युद्ध अगस्त, 1803 में मराठा के उत्तरी और दक्षिणी दोनों राजघरानों से एक साथ ही शुरू हो गया। उत्तरी कमान जनरल लेक ने संभाली, जबकि दक्षिण की कमान आर्थर वेलेजली के हाथ में थी। अंग्रेजों ने गुजरात, बुंदेलखंड और उड़ीसा में एक साथ युद्ध छेड़ दिया। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि मराठा सरदार अलग-अलग जगहों पर उलझे रहें और उन्हें एक जगह इकठ्ठा होने का अवसर न दिया जाए।

23 सितंबर, 1803 को आर्थर वेलेजली ने सिंधिया और भोंसले की सयुंक्त सेना को असाय (Assaye) नामक स्थान पर पराजित किया। असाय, औरंगाबाद के पास एक जगह है। 15 दिसंबर 1803 को ग्वालियर भी पराजित हो गया। उत्तर में जनरल लेक ने अगस्त में अलीगढ़ पर, सितंबर में दिल्ली पर, और अक्तूबर में आगरा पर कब्जा कर लिया। नवंबर 1803 में सिंधिया को एक बार फिर लसवारी में पराजित होना पड़ा और चंबल नदी का दक्षिणी हिस्सा उसके हाथ से निकल गया। अंग्रेजों ने कटक, गुजरात और बुंदेलखंड पर भी कब्जा कर लिया।

इस करारी हार ने भोंसले और सिंधिया को भी उसी तरह की संधि करने पर विवश कर दिया जैसी संधि पेशवा ने की थी। 17 दिसंबर, 1803 को भोंसले ने 'देवगांव' में और 30 दिसंबर 1803 को सिंधिया ने सूजीअर्जुन गांव में ''शांति संधि'' पर हस्ताक्षर किए।

भोंसले ने कटक, बालासोर और वर्धा नदी का पश्चिमी भाग अंग्रेजों के हवाले कर दिया। सिंधिया ने जयपुर, जोधपुर, उत्तरी गोहाद, अहमदनगर, भरुच, अजंता और गंगा और यमुना का पूरा क्षेत्र अंग्रेजों के हवाले कर दिया। दोनों इस बात पर भी राजी हो गये कि निजाम पर पेशवा से विवाद की स्थिति में वे अंग्रेजों की मदद लेंगे। वे इस बात पर भी राजी हो गये कि वे अपने इलाक़े में ऐसी किसी सेना को ठहरने नहीं देंगे जो अंग्रेजों का शत्रु हो। वे अपनी राजधानी में अंग्रेजों को घर बनाने की अनुमति देंगे और बसीन की संधि को स्वीकार करेंगे।

होल्कर, जो अब बिल्कुल अकेला पड़ गया था ने अप्रैल 1804 में लड़ायी शुरू की। वह कोटा के नजदीक मुकुंद दारा में कर्नल मोनसन को पराजित करने के पश्चात दिल्ली की ओर बढ़ा और दिल्ली पर कब्जा करने की असफ़ल कोशिश की। उसे 13 नवंबर को दीग (Deeg) और 17 नवंबर को फ़र्रुखाबाद में हार का मुंह देखना पड़ा और आखिरकार 7 जनवरी, 1806 ई. को रालपुर घाट में अंग्रेजों से संधि करने को तैयार हो गया। वह इस बात पर राजी हो गया कि वह चंबल नदी के उत्तरी भाग, बुंदेलखंड और पेशवा के इलाक़े पर से अपना दावा छोड़ देगा। उसने यह भी वादा किया कि वह अंग्रेजों को छोड़ कर किसी यूरोपीय का अपनी राजधानी में स्वागत नहीं करेगा। इन सबके बदले में अंग्रेज चम्बल के दक्षिणी क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-1818)

तीसरे आंग्ल-मराठा युद्ध का एक कारण तो भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का बढ़ता प्रभाव था। और दूसरा कारण मराठाओं का स्वभाव था। 1813 ई. में चार्टर-एक्ट पारित किया गया, जिससे इंग्लिश ईस्ट

इंडिया कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया। सभी इंलिग्श कंपनियों को यह अधिकार दे दिया गया कि भारत में अपना जो भी उत्पाद चाहें खरीदें। ब्रिटेन के पूंजीपति एक बड़े बाजार की तालाश में थे। इस चार्टर एक्ट के द्वारा ब्रिटिश उत्पाद को एक बड़ा बाजार मिल गया और ब्रिटिश कंपनियों को भारत का कच्चा माल उपलब्ध हो गया। इंग्लिश कॉटन मिल पूरी तरह भारतीय जूट पर निर्भर थी और दकन जूट उत्पाद के लिए प्रसिद्ध था। हस्तक्षेप न करने वाली नीति भारतीय रियासतों के लिए उपयुक्त नहीं थीं।

कंपनी को मराठों के खिलाफ़ युद्ध करने के लिए यह अवसर प्रदान कर दिया। पिंडारी, जो अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंटा हुआ था, मराठा सेना से जुड़ा हुआ था। वे आम तौर पर मराठा सरदारों के अधीन धन के लालच में काम किया करते थे। लेकिन जब मराठा सरदार कमजोर होने लगे और उन्हें लगातार काम कराने में असमर्थ हो गये तो पिंडारियों ने वहां से पलायन करना शुरू किया। वे लोग काम की खोज में दूसरी रियासतों में भी पहुंच गये। वे उस इलाक़े में भी गये जो या तो कंपनी के अधीन था या कंपनी के सहयोगियों के कब्जे में था। कंपनी ने मराठा पर यह आरोप लगाया कि वे उन्हें आश्रय देते हैं और उनको प्रोत्साहित करते हैं।

गवर्नर जनरल लॉर्ड हास्टिंग्स (1813–1823) ने मालवा में पिंडारियों को एक बड़ी सेना से घेरने की योजना बनायी ताकि मराठा उनकी सहायता न कर सकें। 1817 ई. के अंत और 1818 ई. की शुरुआत में पिंडारियों को चंबल के पास घेर लिया गया। उनमें से हजारों लोग मारे गये। उनके नेता आमिर ख़ान और करीम ख़ान ने आत्म समर्पण कर दिया, जबकि सर्वाधिक खतरनाक चीतू असीरगढ़ के जंगल में भाग गया। लेकिन अग्रेजों से मराठों की सीधी टक्कर तब शुरू हुई जब गायकवाड के राजदूत गंगाधर शास्त्री को पेशवा के प्रधानमंत्री त्रयंबकाजी ने मार डाला। एलफिंस्टन नाम के एक अंग्रेज नागरिक ने पेशवा से त्रयंबकाजी को हवाले करने को कहा लेकिन वह भाग गया।

इस पर कर्नल स्मिथ ने पूना पर कब्जा कर लिया और पेशवा को पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर 13 जून, 1817 को करने के लिए मजबूर कर लिया। मराठा संघ बिखर गया और पेशवा का वर्चस्व समाप्त हो गया। अहमदनगर का किला, बुन्देलखंड और मालवा की लंबी चौड़ी रियासत पर कंपनी का कब्जा हो गया। पेशवा इस पर सहमत हो गया कि पूना में अंग्रेजी फौज उस समय तक रहेगी और उसके परिवार के सदस्य अंग्रेजी फौज की हिरासत में रहेंगे जब तक त्रयंबकाजी गिरफ़्तार नहीं हो जाता या वह आत्मसमर्पण नहीं कर लेता।

पूना समझौता एक बार फिर मराठा के लिए बड़ा ही पीड़ादायक था। पेशवा भी इससे ख़ुश नहीं था। उसने प्रतिशोध लेने की सोची और ब्रिटिश रेसिडेंसी में आग लगा दी और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। नवंबर 1817 ई. में वह किरकी के स्थान पर पराजित हो गया। उसी महीने में भोंसले सरदार 'अप्पाजी' भी सीताबर्डी नामक स्थान पर अंग्रेजों से हार गये। दिसंबर 1817 में माहिदपुर के युद्ध में होल्कर भी पराजीत हो गये और जनवरी, 1818 ई. में उन्हें मंदसौर में संधि के लिए मजबूर होना पड़ा उसे खंदेश नर्मदा नदी के पार का बहुत बड़ा इलाका गंवाना पड़ा।

पेशवा ने युद्ध को जारी रखा लेकिन जनवरी, 1818 ई. में कोरेगांव में वह एक बार फिर पराजित हो गया। और अंत में अशती नामक स्थान पर फरवरी, 1818 ई. में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। रियासत का एक छोटा सा भाग, सतारा के आस-पास का इलाका शिवाजी के उत्तराधिकारी को दिया गया, जबकि पूना समेत पूरा क्षेत्र उससे छीन लिया गया। पेशवा का पद समाप्त कर दिया गया। और बाजी राव को बिठूर (कानपुर के नजदीक) भेज दिया गया। उसके लिए वार्षिक पेंशन सुनिश्चित कर दी गयी। इस पराजय के साथ ही अंग्रेजों का पूरी तरह से वर्चस्व हो गया और मराठों का मुगलों का उत्तराधिकारी बनने का स्वप्न समाप्त हो गया।

मराठों के पराजय के कारण

1. मराठों का स्वभाव

मराठा रियासत में कभी भी स्थायित्व नहीं हो सका। अंग्रेज इतिहासकार उसे रबर की रियासत कहते

हैं। उन्होंने अपनी-अपनी अलग रियासतें बना लीं। बाजीराव-I (1720-40) जब तक पेशवा रहे, पेशवा से उनका थोड़ा बहुत जुड़ाव रहा लेकिन पानीपत की घटना (14 जनवरी, 1761) के बाद वे एक-दूसरे के शत्रु बन गये। और एक दूसरे की रियासत को तहस-नहस कर डाला।

2. अस्थायी अर्थव्यवस्था

किसी भी राज की सफलता वहां के संसाधनों पर निर्भर करती है। लगातार होने वाली गृह-युद्ध जैसी स्थिति ने वहां की कृषि, व्यापार और उद्योग धंधों को पूरी तरह चौपट करके रख दिया। लूट-मार ही उनका मुख्य पेशा बन गया था। मराठा सरदार हमेशा कर्ज में डूबे रहते थे। वे स्थायी आर्थिक नीति बनाने में पूरी तरह असफल रहे। युद्ध और लूट-मार मराठा युवाओं का मुख्य धंधा था। लेकिन उनके सरदार लगातार उन्हें लगान देने पर मजबूर करते थे। इसलिए सिपाही हमेशा अपनी वफ़ादारी बदलते रहते थे। उनमें से अधिकांश लोग कंपनी की सेवा में भर्ती हो गये। वहां कम से कम उन्हें लगातार वेतन तो मिल जाता था।

3. कमजोर शासक

कुछ लोगों को छोड़कर अधिकांश मराठा सरदारों में नेतृत्व क्षमता का अभाव था। दौलतराव सिंधिया सरीखे शासक धन के पुजारी थे। इसके अलावा मराठा सरदारों में ईर्ष्या और द्वेष का भाव आम तौर पर पाया जाता था और वे हमेशा एक-दूसरे के विरुद्ध साजिश रचने में व्यस्त रहते थे। इस स्थिति ने कंपनी को लाभ पहुंचाया।

4. दुर्बल सैन्य व्यवस्था

मराठा युद्ध में आधुनिक तकनीकों को अपनाने में असफल रहे। महदजी सिंधिया को छोड़कर किसी भी मराठा सरदारों ने हथियारों को महत्व नहीं दिया। वे फ्रांसीसियों पर निर्भर रहे। पूना में एक तोपखाना अवश्य स्थापित किया गया लेकिन कभी उसने ठीक से काम नहीं किया। मराठों ने अपनी परंपरागत गुरिल्ला-युद्ध प्रणाली को भी जारी नहीं रखा, जिससे वे मुगलों को निरंतर परेशान रखते थे। इसके अलावा मराठा माल बरदार सिपाहियों को कभी प्रोत्साहित नहीं किया करते थे। युद्ध हार जाने का अर्थ उनके नजदीक नौकरी छूट जाने का समान था।

5. श्रेष्ठ इंग्लिश रणनीति और जासूसी

युद्ध से पहले अंग्रेज हमेशा पहले कुछ सहयोगी बना लिया करते थे और शत्रुओं को अकेला करने का प्रयत्न किया करते थे। ये वही नीति थी, जिसे 18वीं और 19वीं शताब्दी में सभी यूरोपीय देशों में अपनाया लेकिन अंग्रेज इसमें बहुत सफल रहे। दूसरे आंग्ल-मराठा युद्ध में उन्होंने पेशवा और गायकवाड़ को अपना सहयोगी बनाया, जबकि तीसरे आंग्ल-मराठा युद्ध में उन्होंने सिंधिया को अपना सहयोगी बना लिया।

6. कंपनी की जासूसी व्यवस्था

कंपनी की जासूसी व्यवस्था का एशिया में कोई जवाब नहीं था। वे अपने शत्रुओं की एक-एक गतिविधियों पर नजर रखते थे। उनकी शक्ति, उनकी कमजोरियां, उनकी सैनिक तैयारी आदि सभी बातों का पता लगाते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी की समस्त राजनीतिक प्रक्रिया जासूसों की दी हुई सूचनाओं के आधार पर निर्भर करती थी। दूसरी ओर मराठा कंपनी की इन गतिविधियों से पूरी तरह अनिभिज्ञ थे। अंग्रेजों ने मराठी और दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं को सीख लिया था, जबकि मराठा अंग्रेजी नहीं सीख सके थे। उन्हें इंगलैंड, अंग्रेजी लोगों, उनकी कंपनियों, उनके हथियारों और उनकी रणनीतियों के बारे में कुछ

भी पता न था। युद्ध तो मैदाने जंग में लड़ा जाता है लेकिन उसकी रणनीति टेबल पर तैयार की जाती है, तभी लक्ष्य की प्राप्ति संभव होती है।

आंग्ल-सिख युद्ध

प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध

महाराजा रणजीत सिंह (1799-1839) पंजाब के अंतिम महान शासक थे। 1839 में उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके बेटे खड़ग सिंह और फिर शेर सिंह पंजाब के राजा बने। शेर सिंह की हत्या के बाद रणजीत सिंह का नाबालिग बेटा महाराजा दिलीप सिंह गद्दी पर बैठा वह केवल पांच वर्ष के थे। इसलिए उसकी मां रानी जिन्द उर्फ जिंदान उसकी संरक्षक बनी। लाल सिंह जो उसका प्रेमी था, ने उसकी सहायता की।

लेकिन पंजाब की सिख सेना रानी जिंदन से खुश नहीं थी। इसलिए सेना ने खालसा पंचायत बुलाई और अपने फैसले आप करने लगी। अक्सर प्रशासन और पंजाब सेना में टकराव की स्थिति पैदा हो जाती। अदालत के हस्तक्षेप ने भी पंजाब रियासत को कमजोर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने अभी-अभी अफ़ग़ानिस्तान (1836-42) से लंबी लड़ाई लड़ी थी। यद्यपि उसे इस युद्ध से कोई ख़ास चीज हाथ नहीं लगी थी, लेकिन उसे यह विश्वास हो गया था कि अफ़ग़ानिस्तान पर नियंत्रण के लिए पंजाब एक केंद्रीय भूमिका निभा सकता है। वे चाहते थे कि अफ़ग़ानिस्तान को ब्रिटिश इंडिया और रूस के बीच एक संरक्षित राज्य (Buffer State) के रूप में स्थापित किया जाए। अंग्रेजों ने पंजाब की कमजोर राजनीतिक परिस्थितियों का लाभ उठाया और उनके विरुद्ध युद्ध के लिए एक बहाना ढूंढा।

मेजर ब्रौडफूट की लुधियाना में कंपनी के एजेंट के तौर पर नियुक्ति अंग्रेजों की सोची समझी रणनीति थी। वह मुख्य सेनापति तेजा सिंह और मंत्री लाल सिंह को मिला लेने में सफल रहे। दोनों बागियों ने उन्हें विश्वास दिला दिया कि वे 13 दिसंबर 1845 ई. को सेना को सतलज नदी के पार करवा देंगे। यद्यपि सिख सेना अभी राजधानी की सीमा के भीतर ही थी लेकिन अंग्रेजों के लिए पंजाब के विरुद्ध युद्ध करने की घोषणा के लिए यह बहाना काफ़ी था। वास्तव में यह कोई कारण नहीं था बल्कि यह एक बहाना ही था। यहां तक कि तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग को भी यह विश्वास नहीं था कि इंगलैंड में इसे उचित मान लिया जायेगा। लेकिन चूंकि ब्रिटिश भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार चाहते थे, इसलिए उन्होंने इसकी अनुमति दे दी।

18 दिसंबर 1845 ई. को मुडकी के स्थान पर पहला युद्ध हुआ। सिखों की इस युद्ध में पराजय हुई लेकिन अंग्रेजी सेना को भी बहुत भारी नुकसान उठाना पड़ा। 872 अंग्रेजी सैनिक मारे गये और हजारों घायल हुए। 21 दिसंबर को फ़िरोजशाह में सिखों के साथ दूसरा युद्ध हुआ। सिखों ने इसका डटकर मुकाबला किया। ब्रिटिश सेना के कमांडर-इन चीफ़ हग गोह, ने उस रात को 'नाइट ऑफ होरर' (भयावह रात) की संज्ञा दी थी। सिखों का पूरी तरह से पलड़ा भारी था। अंग्रेजी सैनिकों को 36 घटों तक खाना नहीं मिला। सारे तोप के गोले समाप्त हो चुके थे। ब्रिटिश सेना बुरी तरह उलझ चुकी थी। यदि तेजा सिंह और लाल सिंह बग़ावत करके उस निर्णायक घड़ी साथ नहीं छोड़ते तो नतीजा कुछ और होता।

अंग्रेज घबराये हुए थे। गवर्नर जनरल बहुत चिन्तित थे इसलिए उन्होंने सिख सरदारों से अपील की कि वे युद्ध से पीछे हट जाएं। इसके बदले में उन्हें इनाम और पुरस्कार से नवाजा जायेगा। जम्मू के महाराजा गुलाब सिंह को कश्मीर का वादा किया और लाल सिंह को बहुत सारी रिश्वत दी गयी। लेकिन रणछोड़ सिंह को पराजित होना पड़ा। 10 फरवरी 1846 को सतलज नदी के पास सबरांव में निर्णायक युद्ध हुआ। लाल सिंह ने सबरांव में सिखों को एक विशेष स्थिति में खड़ा किया, जबकि तेजा सिंह रहस्यमयी ढंग से युद्ध क्षेत्र से गायब हो गया। इस बग़ावत और धोखेबाजी के उपरांत भी

सिखों ने अंग्रेजों का डटकर मुकाबला किया। उन्होंने गुरु ग्रंथ साहब की कसम खायी कि वे युद्ध क्षेत्र से जीवित वापस नहीं लौटेंगे। इस युद्ध में सतलज नदी लाल हो गयी। लगभग 10,000 सिख और 3,000 अंग्रेज मारे गये। अंग्रेजों ने 13 फरवरी को सतलज पार कर लिया और 20 फरवरी को लाहौर पर कब्जा कर लिया। 9 मार्च 1846 पंजाब पर लाहौर की संधि थोप दी गयी।

लाहौर की संधि

1. सिखों को सतलुज का दक्षिणी इलाका यानी जालंधर-दोआब देना होगा।
2. पंजाब को डेढ़ करोड़ रुपये हर्जाने के देने थे लेकिन 'लाहौर दरबार' उसे देने की स्थिति में नहीं था। इसलिए उसे इस बात पर सहमत होना पड़ा कि वह एक करोड़ के बदले कंपनी को व्यास और सिंध नदी के बीच का हिस्सा, जिस में कश्मीर और हजारा भी शामिल है, दे देगा। शेष 50 लाख रुपये नकद देने होंगे।
3. पंजाब के महाराजा को अपना किला, जमीन, पहाड़ियां, जो भी व्यास और सतलज के बीच स्थित था, उससे अपना दावा त्यागना पड़ेगा।
4. महाराजा के अपने सैनिकों की संख्या घटाने पर भी सहमत होना पड़ा। पंजाब को केवल 12 हजार घुड़सवार सैनिक और 20 हजार पैदल सिपाहियों को रखने की अनुमति मिली।
5. सभी 250 तोपें अंग्रेजों को सौंपनी पड़ी।
6. ब्रिटिश सेना को लाहौर से गुजरने की आजादी दे दी गयी।
7. अंग्रेजों की जानकारी के बिना किसी भी यूरोपीय या अमेरिकी को पंजाब में नौकरी नहीं दी जायेगी।
8. दिलीप सिंह को महाराजा घोषित किया गया। उसकी मां उसकी संरक्षक बनी और लाल सिंह को मंत्री बनाया गया।
9. कंपनी ने वादा किया कि वह पंजाब के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। हालांकि कंपनी के पंजाब के रेसिडेंट सर हेनरी लॉरेंस ने हमेशा संधि के इस नियम का उल्लंघन किया।

11 मार्च को एक पूरक संधि पर भी हस्ताक्षर किये गये, जिसमें यह शर्त भी जोड़ दी गयी कि अंग्रेजी सेना दिसंबर तक लाहौर में रहेगी ताकि महाराजा और नागरिकों की सुरक्षा को सुनिश्चित किया जा सके।

लाहौर दरबार में साजिश फिर भी जारी रही। लाल सिंह, गुलाब सिंह को कश्मीर रियासत दिये जाने से प्रसन्न नहीं था। इसलिए उसने गुलाब सिंह के विरोध में इमायुद्दीन को प्रोत्साहित किया। इस पर अंग्रेजों ने कश्मीर पर कब्जा कर लिया। 16 दिसंबर 1846 ई. में लाल सिंह को निकाल दिया गया। लाहौर का प्रशासन संभालने के लिए एक रीजेंसी (Regency) बनायी गयी। इसमें आठ नेताओं को नियुक्त किया गया। रीजेंसी ब्रिटिश रेसिडेंट की सलाह से शासक की निगरानी करेंगें। तेजा सिंह, शेर सिंह, नूरुद्दीन, और दीना नाथ आदि उस रिजेंसी के प्रमुख नेता थे।

द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध (1847-48)

पंजाब का भाग्य तो प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध में ही सुनिश्चित हो चुका था। यद्यपि लाहौर संधि और रिजेंसी की स्थापना के साथ ही पंजाब पूरी तरह अंग्रेजों के अधीन हो चुका था। पंजाब को साम्राज्य में मिला लेने की केवल औपचारिकता बची थी। लेकिन मुलतान के गवर्नर दीवान मूलराज की बग़ावत ने अंग्रेजों को युद्ध शुरू करने का एक अच्छा अवसर प्रदान कर दिया। अंग्रेजों ने 30 लाख रुपयों की मांग की जो बाद में घटाकर 25 लाख कर दी गयी और रावी के उत्तर का सम्पूर्ण भू-भाग अपने कब्जे में ले लिया गया। वह उन शर्तों को पूरा नहीं कर सका और उसने 1847 में अपना त्यागपत्र सौंप दिया। वहां के रेसिडेंट जॉन लॉरेंस ने उसे दूसरी व्यवस्था होने तक अपने पद पर बने रहने का अनुरोध

किया। नये रेसिडेंट फ्रेडरिक क्यूरी ने ख़ान सिंह मान को मुल्तान का नया गवर्नर नियुक्त किया और 30,000 रुपये वार्षिक वेतन तय किया गया। वह 500 सैनिकों और 2 ब्रिटिश अधिकारियों के साथ मुल्तान भेजा गया। मूल राज ने मुल्तान के किले को ख़ान सिंह मान के हवाले कर दिया लेकिन दोनों ब्रिटिश अधिकारी मारे गये। संभवतः असंतुष्ट सिख सिपाहियों ने उन्हें मार डाला। और उन्होंने मूलाराज को मजबूर किया कि वे उनका नेतृत्व करें।

अंग्रेज आसानी से मुलतान के बागियों को दबा सकते थे लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। यह उनकी रणनीति थी कि बगावत की चिंगारी पंजाब के कुछ और हिस्सों में भी फैले। वैसा ही हुआ जैसा अंग्रेजों ने सोचा था। बगावत की आग बन्नू, पेशावर और उत्तर-पश्चिम पंजाब में फैल गयी। यहां तक कि अफ़ग़ानिस्तानियों ने सिखों की सहायता का वादा कर लिया। अब वे लाहौर दरबार, दिलीप सिंह और रानी जिन्दन पर अंग्रेजों के विरुद्ध साजिश रचने का आरोप लगा सकते थे। अब उन्हें पंजाब के विरुद्ध युद्ध करने का ठोस बहाना मिल गया।

1848 के मध्य नवंबर में लॉर्ड गोह ने सेनाओं के साथ रावी नदी को पार किया और 22 नवंबर को राय नगर में सिख सेना से मुकाबला किया। यह एक निर्णायक युद्ध था। जनवरी के शुरू में मुल्तान पर कब्जा हो गया। 13 जनवरी को चिल्लीवाला में युद्ध हुआ। यद्यपि युद्ध का कोई फैसला नहीं हो सका लेकिन ब्रिटिश सेना को भारी नुकसान उठाना पड़ा। हंटर के अनुसार, यह पूरे ब्रिटिश साम्राज्य के लिए दुख का दिन था। ब्रिटिश सेना के 2,357 सैनिक, 89 सैनिक अधिकारी और चार तोपों का नुकसान हुआ। गोह के स्थान पर सर चार्ल्स नेपियर को कमांडर-इन-चीफ नियुक्त किया गया। लेकिन इससे पहले कि नेपियर चार्ज संभालता ब्रिटिश सेना ने पंजाब के एक प्रांत गुजरात में, चेनाब नदी के तट पर 21 फ़रवरी 1849 को सिख सेना को पराजित कर दिया। इस तरह दूसरा आंग्ल-सिख युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ जिसमें सिखों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। सिखों ने अपनी संपूर्ण टुकड़ी, सरदार, सिपाही और हथियार सब कुछ खो दिया। उनके सहयोगी अफ़गान, जो दोस्त मुहम्मद के नेतृत्व में लड़ रहे थे, भी पहाड़ियों में धकेल दिये गये।

12 मार्च, 1849 को सिखों ने रावलपिंडी में आत्मसमर्पण कर दिया। एक बूढ़े सिख ने कहा, ''आज रणजीत सिंह मर गया।'' 29 मार्च, 1849 ई. को गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी की राज-सीमा अफ़ग़ानिस्तान तक जा लगी। लॉर्ड डल्हौजी को पंजाब को अपने में मिला लेने में किसी प्रकार की हिचक नहीं हुई क्योंकि उसे छोटे-छोटे राजे-राजवाड़ों में कोई रुचि नहीं थी। दिलीप सिंह को 50,000 रुपये वार्षिक पेंशन तय की गयी और शिक्षा ग्रहण करने के लिए इंग्लैंड भेज दिया गया। गुरु गोबिंद सिंह के पवित्र हथियारों में से कोहेनूर हीरा निकाल लिया गया। पंजाब की शासन व्यवस्था चलाने के लिए एक बोर्ड का गठन किया गया जिसमें तीन सदस्य थे—सर हेनरी लॉरेंस को अध्यक्ष बनाया गया, उनके भाई जॉन और चार्ल्स मानसेल अन्य सदस्य थे। हेनरी ने राजनीति संभाली, जबकि जॉन ने भू-राजस्व (Land Revenue) (माल गुजारी) और मानसेल ने न्यायपलिका संभाली।

सहायक संधि (Subsidiary Alliance)

इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने छोटे-मोटे गठजोड़ की नीति अपनायी ताकि भारतीय रियासतों पर उसकी पकड़ मजबूत हो सके। यह नीति 18वीं शताब्दी के मध्य में ही शुरू हो चुकी थी लेकिन इसे पूरी तरह लॉर्ड वेलेजली (Lord Wellessley) के गवर्नर जनरल बनने के बाद (1798-1805) प्रयोग में लाया गया, जब लगभग 100 संधियां हुईं।

हालांकि इस व्यवस्था को प्रारंभ करने का श्रेय फ्रेंच गवर्नर डूप्ले (Dupleix) के सिर जाता है। उसने अपनी सेना को भारतीय राजकुमारों के यहां भाड़े पर देना शुरू किया। रॉबर्ट क्लाईव और दूसरे गवर्नर जनरलों ने भी इसे अपनाया। 1765 ई. में इलाहाबाद में अवध के साथ एक संधि हुई जिसमें

रियासत की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपनी सेना से करने का वादा किया गया। अवध के नवाब ने उसका खर्च वहन किया। अवध में नवाब के खर्च पर इंग्लिश रेसिडेंट को अवध में नियुक्त किया गया। कर्नाटिक के नवाब 1787 ई. में लॉर्ड कार्नवालिस के गवर्नर जनरलशिप में इस बात पर सहमत हो गये थे कि वह किसी भी विदेशी शक्ति से ईस्ट इंडिया कंपनी की अनुमति के बिना कोई बात नहीं करेंगे। 1798 में अवध के नवाब ने गवर्नर जनरल सर जॉन शोरे के दौर में इस बात पर सहमत हुए कि वे किसी भी यूरोपीय को अपने यहां नौकरी नहीं देंगे।

हालांकि सहायक संधि की नीति को लॉर्ड वेलेजली (Lord Wellessiley) के समय में पूरी तरह अपनाया गया। उसने कुछ नये तत्वों को भी शामिल किया। भारत की जिन रियासतों ने इस तरह की संधि पर हस्ताक्षर किए उन सभी का स्थायी तौर पर कंपनी में विलय हो गया। इसीलिए वेलेजली ने इसे कंपनी के विस्तार के लिए अपनाया। इसे चारों चरणों में व्यक्त किया जा सकता है :

1. कंपनी ने अपनी सेना को भारतीय रियासतों की सुरक्षा के लिए भाड़े पर दिया। 1768 ई. में हैदराबाद में इस तरह की एक संधि हुई।
2. कंपनी ने अपनी सेना को भारतीय रियासतों की सीमा पर उसकी सुरक्षा के लिए लगाया और उसके लिए रियासत से वार्षिक खर्च वसूले। 1784 में सिंधिया ने इसी तरह की संधि की।
3. कंपनी ने अपनी सेना को भारत की रियासत के भीतर उस रियासत की सुरक्षा के लिए लगाया और उसके लिए वार्षिक खर्च लिया। 1798 ई. में हैदाराबाद में इस तरह संधि हुई।
4. कंपनी ने रियासत के अंदर उस रियासत की सुरक्षा के लिए अपनी सेना भेजी और उसके बदले में रियासत से कुछ इलाका ले लिया। सन् 1800 में हैदराबाद से, और 1801 मे अवध में इसी तरह की व्यवस्था की गयी।

जिन शासकों ने इस तरह की संधि पर हस्ताक्षर किये उन्हें ये शर्तें माननी पड़ी—

1. भारत की जिन रियासतों ने इस तरह की संधि को स्वीकार किया वह अंग्रेजों को छोड़कर किसी भी यूरोपीय या अमेरिकी को अपने यहां नौकरी नहीं दे सकता था या किसी ऐसे व्यक्ति को भी अपनी रियासत में नहीं बुला सकता था जो कंपनी का शत्रु हो।
2. उन रियासतों में ब्रिटिश रेसिडेंट की नियुक्ति कर दी जाती थी।
3. इन रियासतों के विदेशी मामलों को कंपनी देखने लगती थी। इस तरह जिन रियासतों ने इस तरह की संधि की वह अपनी संप्रभुत्ता खो देती थी।
4. कंपनी बाहरी हमले से उस रियासत की सुरक्षा किया करती थी।
5. कंपनी उस रियासत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती थी।

इस तरह की संधियों से कंपनी को निम्न प्रकार से लाभ होता था—

1. इंग्लिश ईस्ट इंडिया को कम से कम फ्रांसिसियों से खतरा नहीं रहता था क्योंकि जिन रियासतों ने इस तरह की संधि की थी, वे अपने यहां किसी यूरोपीय या कंपनी के शत्रु देश के लोगों को अपने यहां नौकरी नहीं दे सकता था।
2. भारत की वे रियासतें अपनी संप्रभुत्ता खो देती थीं। वे आपस में किसी भी तरह का राजनीतिक संबंध बिना अंग्रेजों की जानकारी और अनुमति के नहीं बना सकती थीं। इससे उनके मिल-जुलकर कंपनी को निकाल बाहर करने के किसी भी संयुक्त प्रयास के अवसर समाप्त हो जाते थे। अलग-अलग वे कभी भी कंपनी के लिए खतरा नहीं बन सकते थे।
3. कंपनी के 'सैनिक साम्राज्य' का विस्तार पूरे भारत में फैल गया था। जब देश के हर भाग में कंपनी की सेना मौजूद होगी तो कंपनी का प्रभाव भी तेजी से बढ़ेगा।
4. कंपनी ने बड़ी चतुराई से अपनी सेना को बहुत विस्तार दे दिया था। जबकि उसके लिए उसे कुछ भी मूल्य नहीं चुकाना पड़ता था। उसी सेना का इस्तेमाल किसी काम के लिए भी हो

सकता था। वह उस रियासत को अपने में मिलाने के लिए भी उस सेना का इस्तेमाल कर सकती थी। कंपनियों को युद्ध के बाद के प्रभाव से मुक्ति मिल जाती थी।

5. कंपनी लगातार अपनी सीमा को इसी तरह विस्तार दे रही थी।

जबकि भारत की रियासतों के हाथों से बहुत कुछ निकलता जा रहा था। वे सोच भी नहीं सकते थे कि इस तरह की संधि के किस प्रकार के दुष्परिणाम सामने आ सकते हैं। वे बिलकुल असहाय और कंपनी के हाथों की कठपुतली बन गये थे। इससे प्रशासनिक अक्षमता बढ़ी। भ्रष्टाचार का बोलबाला हुआ और अंततः भारतीय रियासतों का नैतिक पतन हो गया। भारत की जिन रियासतों या राजे/रजवाड़ों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ इस तरह की संधि की उन्हें निम्न प्रकार से हानि हुई—

1. कंपनी उनसे लगातार भारी धन की मांग करती रही और रियासत के सबसे अधिक उपजाऊ भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। इस तरह भारत की रियासतों को अर्थिक दृष्टि से पूरी तरह लूट लिया गया।
2. ब्रिटिश रेसिडेंट, कंपनी के वादे के विपरीत रियासत के लगभग प्रत्येक मामले में हस्तक्षेप करने लगा।
3. इस संधि ने भारतीय शासकों को दूसरों पर निर्भर कर दिया। धीरे-धीरे उनमें निर्णय करने की क्षमता क्षीण पड़ने लगी। नैतिक स्तर पर भारतीय शासक दिवालिया हो गये।
4. इन संधियों से वहां के लोगों को सर्वाधिक कष्ट सहन करना पड़ा। शासक तो कम से कम अपनी शान का कुछ हिस्सा भोग रहे थे लेकिन आम नागरिकों को दो-दो शासकों को झेलना पड़ रहा था। एक तो अपने राजाओं को और दूसरे अंग्रेजों को। भारतीय शासक अपने भोग-विलास में डुबे हुए थे। छुट्टियों में इंग्लैंड का दौरा करना उनका शौक बन गया, जबकि देश के नागरिक भूखों मर रहे थे। अंग्रेजों के अधीन भारत का जो भाग था, वह अपने समस्त शोषण के बावजूद कुछ अर्थों में विकास के पथ पर अग्रसर था, जबकि भारतीय शासकों के इलाक़े वैसे ही पिछड़े हुए थे।

व्यपगत का सिद्धांत (Doctrine of Lapse)

प्राचीन भारत में गोद लेने की प्रथा, विशेषकर हिंदुओं के यहां बहुत प्रचलित थी। प्रचलित परंपरा के अनुसार, दत्तक पुत्र को वे सारे अधिकार प्राप्त थे जो उसके अपने बेटे को प्राप्त होते। शासकों के यहां भी यही कानून था। दत्तक पुत्र ही उनका उत्तराधिकारी बनता था। शुरू में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत की इस परंपरा का सम्मान किया। कंपनी ने 1825 में यह घोषणा की कि प्रत्येक शासक, हिंदु लॉ के अनुसार अपना उत्तरधिकारी चुनने का अधिकार रखता है। चाहे वह अपने बेटे को उत्तराधिकार बनाये या दत्तक पुत्र को।

लेकिन कुछ वर्षों के पश्चात् कंपनी ने अपनी नीति में बदलाव की घोषणा कर डाली। 1831 ई. में बंबई में उसने घोषणा की कि सरकार परिस्थितियों के अनुसार उत्तराधिकारी चुनने के मामले में स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। असल में कंपनी की नीति साफ नहीं थी। कुछ मामलों में कंपनी ने इसे स्वीकार कर लिया, जबकि कुछ मामलों में बिना कोई कारण बताये उसे अस्वीकार कर दिया।

उदाहरणार्थ 1827 में कंपनी ने दौलत राव सिंधिया की विधवा बैजाबाई को यह अधिकार दिया कि वह अपने दत्तक पुत्र जनकोजी को राजा का उत्तराधिकारी घोषित कर दे। जबकि झांसी की रानी को 1835 में राय चन्द्र राव को जो कि उसका दत्तक पुत्र था, उत्तराधिकारी घोषित करने पर, मानने से इंकार कर दिया।

लार्ड डलहौजी (1848-56) ने दत्तक पुत्र के मामले को कुछ और जटिल कर दिया। उसने भारत की रियासतों को तीन श्रेणियों में बांट दिया—

1. ऐसी रियासतें जो परोप या प्रत्यक्ष रूप में ब्रिटिश चार्टर के जरिये अस्तित्व में आयीं।
2. ऐसी रियासतें जो ब्रिटिश राज की सहयोगी थीं।
3. ऐसी रियासतें जो पूरी तरह से स्वतंत्र थीं।

पहली श्रेणी की रियासत के संबंध में यह घोषणा की गयी कि यदि रियासत का अपना वास्तविक उत्तराधिकारी नहीं होगा तो रियासत को ब्रिटिश इंडिया में मिला लिया जायेगा। दूसरे श्रेणी की रियासत को अपना उत्तराधिकारी चुनने के लिए गोद लेने की अनुमति कंपनी सरकार से लेनी होगी। कंपनी इस संबंध में स्वतंत्र होगी कि चाहे तो उसे माने या चाहे तो मानने से इंकार कर दे। तीसरी श्रेणी की रियासतें इस सिलसिले में पूरी तरह आजाद हैं कि वे जिसे चाहें अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करें।

पहली श्रेणी की रियासत को ब्रिटिश इंडिया में विलय करने की नीति को ''व्यपगत का सिद्धांत'' (Doctrine of Lapse) कहते हैं। इस नीति का पहला शिकार 1848 में सतारा बना। सतारा के राजा अप्पा साहब की 1848 मे जब मृत्यु हुई तो उनका अपना कोई बेटा नहीं था। मृत्यु से कुछ दिन पहले उसने एक बच्चे को गोद लिया परंतु इसकी अनुमति उसने कंपनी से नहीं ली। जैतपुर और संभलपुर 1849 में उसके दूसरे शिकार बने। बघाट (1850), उदयपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854) भी इस सिद्धांत के शिकार बने। इन सभी में झांसी सबसे प्रसिद्ध हुई। राजा गंगाधर राव, की मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानी लक्ष्मी बाई अपने दत्तक पुत्र के अधिकार के लिए लड़ी। जब निरंतर प्रयासों के उपरांत भी वह अधिकार दिला पाने में असफल रही तो 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत का ऐलान कर दिया।

करौली अगला राज था जो डलहौजी के इस सिद्धांत का निशाना बना। लेकिन कोर्ट ऑफ डायरेक्टर ने डलहौजी के इस फैसले को रद्द कर दिया और करौली को यह अनुमति दी गयी कि वह जिसे चाहे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करे। उसका कारण यह था कि डलहौजी ने रियासतों को जिस नियमानुसार श्रेणियों में विभाजित किया था वह पूरी तरह स्पष्ट नहीं था। डलहौजी ने यह दावा किया था कि ब्रिटिश ने जिन रियासतों को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व प्रदान करने का दावा किया है वह गलत सारी रियासतें या तो एक श्रेणी में आती हैं या दूसरी। अधिकांश रियासतें व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र थीं लेकिन मुग़लों के अधीन समझी जाती थीं। इसलिए उत्तराधिकारी को मानना या न मानना मुग़लों का अधिकार था। लेकिन मुग़ल कमजोर पड़ चुके थे और कंपनी की शक्ति बढ़ती जा रही थी। कंपनी अपनी शक्ति का प्रयोग भारतीय रियासतों को अपने में मिलाने के लिए एक-न-एक बहाने से कर रही थी। कंपनी के पास इसका कोई कानूनी या नैतिक आधार नहीं था।

''व्यपगत का सिद्धांत (Doctrine of Lapse) ब्रिटिश राज के विरुद्ध असंतोष का प्रमुख कारण बना। विशेषकर उन रियासतों में जो इस सिद्धांत का निशाना बने। यह 1857 में उस समय स्पष्ट हो गया जब भारत के आम नागरिक, सिपाही, और हराये गये राजे/रजवाड़े ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक हो गये। जब लॉर्ड कैनिंग (Lord Canning) को वायसराय नियुक्त किया गया और जब ताज का शासन स्थापित हो गया तो गोद लेने को कानूनी अधिकार मान लिया गया।''